Published in: अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सरकार और सरोकार समय से संवाद 20 संपादक नरेंद्र शुक्ल, शृंखला संपादक किशन कालजयी अनन्य प्रकाशन दिल्ली 2016; 67-74 आई एस एस एन नंबर 978-93-85450-21-1

साहित्य के संदर्भ में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सरोकार

s बिपिन तिवारी

किसी भी दौर की सत्ता या सरकार के मूल्यांकन का एक पैमाना अभिव्यक्ति की आजादी को भी बनाया जा सकता है। सत्ता या सरकार जिस तरह की अभिव्यक्ति की आजादी जनता, साहित्य, बुद्धिजीवियों, समाचार-पत्रांे, विपक्षी जमात आदि को देती है उसी से उसका चरित्र निर्धारित होता है। इन सभी के साथ सत्ता का रिश्ता अलग-अलग होता है। साहित्य के साथ सत्ता का रिश्ता हमेशा नकारात्मक ही रहा है। साहित्य ने जनता के जीवन से जुड़ी समस्याओं को लेकर सत्ता की आलोचना की है और सत्ता ने साहित्य पर प्रतिबंध लगाकर, साहित्यकारों का दमन करके अपनी शक्ति को दिखाया है। इस तथ्य को हाल में घटी घटनाओं से लेकर किसी भी दौर के साहित्य में देख सकते हैं। सत्ता साहित्य की स्वतंत्रता को क्यों बर्दाश्त नहीं कर पाती है? किसी भी दौर की सत्ता का चरित्र एक जैसा ही क्यों रहता है? साहित्य के वह कौन से सरोकार हैं जिनकी वजह से साहित्य हमेशा सत्ता का विरोध करता रहा है? आदि प्रश्नों की विवेचना करने की कोशिश इस आलेख में रहेगी।

सत्ता और साहित्य के बीच अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर संघर्ष हमेशा से रहा है। साहित्य अपने सरोकारों के कारण सत्ता के विपरीत जाकर अपनी अभिव्यक्ति करता है। इस अभिव्यक्ति में आम जनता की समस्याएं, पीड़ाएं, दुःख शामिल होते हैं। भक्तिकालीन साहित्य में कबीरदास ने राजा की सत्ता को खारिज करके ईश्वर और मनुष्य के बीच सीधा रिश्ता जोड़ दिया। इसीलिए भक्तिकालीन साहित्य का पाठ मात्र भक्ति के संदर्भ में करना उचित नहीं है। कबीरदास ने साहित्य को आम जनता के जीवन से जोड़कर तत्कालीन सत्ता द्वारा निर्मित ज्ञानकांड को चुनौती दी है। वह चाहे मुक्ति की अवधारणा को लेकर हो या फिर वर्णाश्रम व्यवस्था की श्रेष्ठता को लेकर। कबीर के राम आम जन के राम हैं, जिनकी कोई जाति नहीं है और न ही वह किसी कुल परंपरा से जुड़े हुए हैं। वह ऐसे निर्गुण राम है जिनका न कोई रूप है और न ही रंग। वह तो भाव के सदृश हैं। 'दशरत सुत तिहुं लोक बखाना/राम नाम का मरम है आना।' कबीर राम की परंपरागत छवि से अलग राम की कल्पना करते हैं। वह ऐसे राम है जो किसी मर्यादा निर्वाह करने के लिए कोई भी कर्म नहीं करते अपितु उनके राम समूचे लोक का हित करने वाले हैं जिनके साथ भक्ति को माध्यम बनाकर कोई भी जुड़ सकता है। दूसरी तरफ कबीर वर्णाश्रम व्यवस्था को लेकर सवाल खड़ा करते हैं। गौर से देखें तो तो पता चलता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था मनुष्य को नयंत्रित करने वाली एक ऐसी व्यवस्था है जो मनुष्य को मनुष्यता से अलग कर देती है। वह किसी एक वर्ण का सदस्य मात्र होकर रह जाता है। इसके अतिरिक्त उसका कोई कोई अस्तित्व नहीं रहता, जबकि कबीर मनुष्य को मनुष्यता के भाव से जोड़ने के लिए, मनुष्य जीवन को गरिमा प्रदान करने के

लिए इन सभी संकुचित धारणाओं का खंड़न करते हैं। कबीरदास जाति प्रथा, धार्मिक आडंबर, पोंगापंथ आदि पर जोरदार ढंग से साहित्य के माध्यम से अपनी राय व्यक्त करते हैं। ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि कबीर का पाठ उस दौर के संदर्भ में रखकर करें नहीं तो निष्कर्ष कुछ अलग ही मिल सकते हैं। कबीर के जीवन में राम में घुले मिले हैं जिनसे किसी भी तरह की बात की जा सकती है, किसी भी तरह का संबंध जोड़ा जा सकता है। वह इसीलिए अपने को राम की बहुरिया कहने और राम का कूता कहने में थोड़ा भी संकोच नहीं करते। 'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।/ गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउं।। कबीर के राम से बाचतीत के लिए राम के साथ अपने संबंध जोड़ने के लिए किसी पंडित या मौलवी की जरूरत नहीं है। पंडित और मौलवी दोनों कबीर की दृष्टि में ब्रह्म और मनुष्य के बीच गतिरोध पैदा करने वाले हैं। ईश्वर से संबंध बनाने के लिए किसी बिचैलिए की क्या जरूरत है? जब सभी मनुष्य ईश्वर की संताने हैं तब यह कैसे माना जा सकता है कि कोई खास व्यक्ति जैसे-मुल्ला-मौलवी, पंडित, राजा ही ईश्वर के प्रतिनिधि हो सकते हंै। कबीर ने धर्म का सहारा लेकर एक ऐसे समाज की कल्पना की जो अपने समय से बहुत आगे का विचार है। यह बात इसलिए कही जा सकती है कि एक तरफ जब पूरे भक्तिकालीन साहित्य में राम, कृष्ण को लेकर उनके पौराणिक स्वरूप को लेकर साहित्य रचा जा रहा है तब कबीर का साहित्य मात्र राम के पौराणिक चरित्र तक सीमित नहीं है। इन्हीं सब विचारों के कारण कबीर को अपने समय की सत्ता द्वारा प्रताड़ित भी किया गया। ऐतिहासिक साक्ष्यों से इसकी पुष्टि भी होती है जिसका उल्लेख कबीर काव्य के आधिकारिक विद्वान पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी आलोचना कृति 'अकथ कहानी प्रेम की कबीर की कविता और उनका समय' में उल्लेख किया है। वह लिखते हैं-''कबीर को विवश किया गया कि वे अपनी काशी नगरी छोड़कर चले जाएं। जिनका प्रभाव केवल हाशिए तक सीमित हो, उनके साथ ऐसा व्यवहार करने की आवश्यकता समाज सत्ता को नहीं पड़ा करती। ऐसा व्यवहार उन्हीं के साथ किया जाता है जिनके लोक प्रभाव से समाज सत्ता को डर लगता हो।'' कबीर का साहित्य एक तरफ तो राजनीतिक व्यवस्था को चुनौती देता है तो दूसरी तरफ सामाजिक सत्ता को। इसीकारण वह दोनों की नजर में खटकते रहते हैं। कबीर के समाज स्वप्न के बारे में पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं-''कबीर की कविता मनुष्यता का सपना देखती है, ऐसे अमरलोक का, जिसमें मनुष्य की मनुष्यता ही महत्वपूर्ण है। कबीर के देखे सपने में न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय। न सैयद हैं, न शेख। न शूद्र हैं, न वैश्य। कबीर का सपना न तो सिर्फ सामाजिक मुक्ति तक सीमित है न सिर्फ आध्यात्मिक मुक्ति तक। उनके सपने में ये दोनों मुक्तियां एक दूसरे का विरोध नहीं पोषण करती हैं।'' कबीर के साहित्य और सत्ता के बीच रिश्ते को समझते समय इन सब तथ्यों को गहराई से पैठकर जांचने-परखने की जरूरत है।

वहीं मीरा को कृष्ण से प्रेम के लिए अपने ससुराल के लोगों द्वारा जहर का प्याला तक दिया गया तथा राज परिवार से बाहर भी निकाला गया। मीरा को अपने जीवन के लिए यह सब स्वीकार था। वह इन बातों और अत्याचारों का मखौल उड़ाती हैं और इसी में अपने प्रेम की सार्थकता महसूस करती हैं। वह कहती हैं-'' राणो म्हांने या बदनामी लगे मीठी।/ कोई निन्दो कोई बिन्दो, मैं चलूंगी चाल अपूठी।...'' यह तभी संभव है जब साधक में अपने प्रिय को लेकर/ईश्वर को लेकर गहन आस्था हो। मीरा का साहित्य उस समय की सामंती व्यवस्था को जिस तरह से चुनौती देता है वह कोई सामान्य घटना नहीं है। राजस्थान का राणा राज परिवार जिसकी पुत्र वधू संतों के संग बैठकर खुले रूप में विधवा होने

के बावजूद कृष्ण से अपने संबंधों की बात करें, यह किसी भी रूप में स्वीकार नहीं था। इन सबके लिए मीरा के साथ जो किया गया उससे राज परिवार के सामंती चरित्र को देखा जा सकता है। मीरा का विद्रोह व्यक्तिगत होते हुए समूची सामाजिक सत्ता व्यवस्था को चुनौती देता है। एक स्त्री को विधवा होने के बाद किस तरह की जिंदगी जीने को मजबूर किया जाता है इसे भी हम देख सकते हैं और जब कोई स्त्री इस घुटन से निकलने के लिए भक्ति को माध्यम बनाये तो उसे हर तरह से सामाजिक व्यवस्था द्वारा प्रताड़ित किया जाता है। जबकि भक्तिकालीन कवि सूरदास कृष्ण-गोपियों के प्रेम के मार्फत प्रेम को लेकर समाज में जो अवधारणा प्रचलित थी उसको चुनौती देते हैं। कृष्ण और गोपियों के बीच जो प्रेम है वह सामाजिक व्यवस्था के मान्य नियमों के विपरीत जाकर विकसित होता है। गोपियां पूरे समाज के सामने अपने प्रेम संबंधों को स्वीकार करती हैं। इन तथ्यों का मूल्यांकन जब 13 वीं 14 वीं शताब्दी के बीच रखकर करते हैं तो पता चलता है कि यह विचार अपने समय से कितना आगे के हैं। भारतीय समाज में प्रेम को लेकर जो भाव रहा है वह बहुत ही संकुचित है। प्रेम का अर्थ है पति-पत्नी में प्रेम, भाई-बहन में प्रेम, मित्र से प्रेम आदि। इनसे अलग प्रेम संबंध को स्वीकार नहीं किया जाता था। कृष्ण और गोपियों के बीच जो प्रेम विकसित होता है वह इन मान्यताओं से अलग है। सूरदास ने सामाजिक सत्ता को प्रेम के माध्यम से चुनौती देते हुए एक नए समाज का खाका साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इन्हीं सब कारणों से सत्ता साहित्य की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करती। कबीर, मीरा आदि के विचार इसीकारण स्वीकार नहीं किये गये जबकि दूसरी तरफ तुलसीदास का साहित्य है जो वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत ही रामराज्य की बात करता है। तुलसी के रामराज्य में राजा-प्रजा के बीच सौहार्दपूर्ण रिश्ते दिखाई पड़ते हैं परंतु अन्य भक्तिकालीन कवियों की तुलना में तुलसीदास का साहित्य सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था को उस रूप में चुनौती नहीं देता। यही कारण हैं कि तुलसी का साहित्य भारतीय जनमानस में बहुत अधिक लोकप्रिय है। जिसका कारण है भारतीय समाज में जड़ जमाये बैठे सामंती संस्कार। इस तथ्य को उत्तर भारत के किसी भी ग्रामीण या शहरी क्षेत्र में देखा जा सकता है। इसीलिए रामचरित मानस महाकाव्यात्मक रचना से आध्यात्मिक रचना में आसानी से तब्दील हो गई है, जिसका पाठ अवसर-अनवसर किया जाता रहता है। तुलसीदास के विचार सत्ता व्यवस्था के विचारों के विपरीत नहीं जाते इसीलिए उनका सत्ता के साथ रिश्ता भी अलग ढंग का बनता है।

अंग्रेजी शासन के दौरान यदि सत्ता और साहित्य के बीच के रिश्ते की पड़ताल करंे तो पता चलता है कि साहित्य पर ही सबसे अधिक प्रतिबंध लगाया गया है। वह चाहे सृजनात्मक साहित्य हो या पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य। प्रेमचंद का उर्दू में प्रकाशित कहानी संग्रह 'सोज़ेवतन' को इसका सबसे पहले शिकार किया गया। इस संग्रह को जब्त ही नहीं किया गया अपितु प्रेमचंद के 'नवाब राय' नाम को भी प्रतिबंधित कर दिया गया। साहित्य और विचारों को प्रतिबंधित करने का बहुत लंबा सिलसिला अंग्रेजी शासन के दौरान देखने को मिलता है। कानपुर के गणेश शंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' अखबार को कई बार प्रतिबंधित किया गया, जुर्माना लगाया गया। इसके बावजूद अखबार में अंग्रेजी शासन विरोधी आवाज कम नहीं हुई। 'प्रताप' में ऐसे लेख, कविताएं, नाटक आदि छपते थे जिसे अंग्रेजी शासन बर्दाश्त नहीं कर पाता था इसीकारण शुरुआती 18 वर्षों में ही विद्यार्थी जी को 'प्रताप' में प्रकाशित सामग्री के लिए

पैंतालिस हजार रुपये जुर्माने के रूप में भरने पड़े। सत्ता के भीतर साहित्य को लेकर इतना भय रहा है कि वह किसी भी रूप में इसको स्वीकार नहीं कर पाती है। गणेश शंकर विद्यार्थी ने एक साथ राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था दोनों को चुनौती दी। जिसका प्रमाण उनके 'प्रताप' अखबार और उनके दैनिक जीवन में देखा जा सकता है। भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव की फांसी के बाद देश के अलग-अलग हिस्सों में दंगे भड़क उठे थे जिसकी चिंगारी कानपुर में भी फूट पड़ी। विद्यार्थी जी ने अपने कुछ साथियों के साथ दंगा रोकने का प्रयास किया जिसमें 25 मार्च 1931 को उनकी मृत्यु हो गई। विद्यार्थी जी की मृत्यु पर गांधी जी ने 'प्रताप' के संयुक्त संपादक को तार भेजा-'कलेजा फट रहा है तो भी गणेश शंकर की इतनी शानदार मृत्यु के लिए शोक-संदेश नहीं दूंगा। उनका परिवार शोक-संदेश का नहीं, बधाई का पात्र है। इसकी मिसाल अनुकरणीय सिद्ध हो।'

आजादी के बाद के परिदृश्य में यदि देखें तो पता चलता है कि यहां भी सत्ता का चरित्र ऐसा ही बना रहा है जिसका सबसे पहला शिकार प्रसिद्ध कवि मुक्तिबोध की इतिहास पुस्तक 'भारत: इतिहास और संस्कृति' हुई। मध्य प्रदेश सरकार ने कुछ अराजकतावादियों की मांग पर मुक्तिबोध की इतिहास पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया था। सरकार के इस कृत्य से मुक्तिबोध को बहुत आघात पहुंचा। यह किताब मुक्तिबोध ने 12 वीं जमात के बच्चों को इतिहास पढ़ाने के लिए लिखी थी, जिसमें भारतीय इतिहास का सिर्फ सामान्य परिचय दिया गया था। इसके बावजूद सत्ता द्वारा ऐसे कृत्य किये गए। यह सिलसिला नक्सलबाड़ी आंदोलन के दौर में और आपातकाल के दौर के साहित्य में ज्यादा गहराई से देखा जा सकता है। आपातकाल में साहित्य और साहित्यकारों को सबसे अधिक प्रतिबंधित और प्रताड़ित किया गया। उस दौर के सभी बड़े कवि, कहानीकार और बुद्धिजीवियों को जेल में डाला गया। समाचार-पत्रों को सेंसर कर दिया गया। आजादी के बाद के दौर में साहित्य, साहित्यकारों का जितना अधिक दमन आपातकाल के दौरान किया गया उसकी कोई दूसरी मिशाल नहीं है। सत्ता कोई भी हो उसका चरित्र एक जैसा ही बना रहता है। किसी भी दौर की सत्ता साहित्य की स्वतंत्रता को लेकर एक ही तरह की नीति रखती रही है, इससे वर्तमान समय की सत्ता को भी बाहर नहीं किया जा सकता।

साहित्य की स्वतंत्रता का विरोध साहित्य के सरोकारों के कारण होता है। साहित्य आम जन से जुड़ा होने के कारण वह सबसे अधिक सत्ता के वास्तविक चरित्र को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। कोई भी सत्ता आम जनता में अपनी छवि खराब नहीं करना चाहती और न ही उन पर शासन करने के अपने तर्क को कमजोर करना चाहती है। सत्ता और साहित्य के बीच रिश्ते की यही कसौटी है कि वह सत्तापेक्षी न होकर अभिव्यक्ति करे। प्रेमचंद ने इसी तर्क को आधार बनाकर साहित्य के उद्देश्य निर्धारित किए थे। प्रेमचंद ने 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ में आयोजित प्रथम अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा था-''साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है- उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।'' इसके साथ ही प्रेमचंद जी ने साहित्य की पक्षधरता की भी बात इसी भाषण में कही थी-''जो दलित हैं, मर्दित हैं, जख्मी हैं, चाहे वे व्यक्ति हो

या समाज उनकी हिमायत और वकालत उसका धर्म है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश कर सकता है और अदालत की सत्य और न्याय-बुद्धि और उसकी सौन्दर्य-भावना को प्रभावित करके ही वह सन्तोष प्राप्त करता है। पर साधारण वकीलो की तरह वह वह अपनें मुवक्किल की तरफ से जा और बेजा दावे नहीं पेश करता कुछ बढ़ाता नहीं, कुछ घटाता नहीं, न गवाही को सिखाता पढ़ाता है। वह जानता है, इन हथकण्डो से वह समाज की अदालत में विजय नहीं पा सकता।'' इसलिए जरूरी है कि साहित्य को आमजन से जोड़कर उनके जीवन को बेहतर करने की कोशिश की जाए। हिंदी साहित्य में गांधीवादी विचारधारा के पक्ष में खड़े होकर रचना करने वाले विष्णु प्रभाकर ने 'सचेतन कहानी' कहानी आंदोलन के प्रवर्तक महीप सिंह को दिए गए एक साक्षात्कार में सत्ता और साहित्य के बीच के रिश्ते के संदर्भ में कहते हंै-''लेखक प्रायः व्यवस्था विरोधी होता है क्योंकि व्यवस्था बहुत शीघ्र अवसरवादी राजनीति और शोषण का शिकार हो जाती है। इसलिए कैसा भी अच्छा शासक हो, लेखक उसका प्रचार मंत्री नहीं हो सकता।'' (साहित्य मानवात्मा की बंधनहीन अभिव्यक्ति) वहीं मुक्तिबोध पक्षधरता के सवाल को अंतरात्मा से जोड़कर देखते हैं। वह 'साहित्य में पक्षधरता, विश्वबोध और मानव-मूल्य' निबंध में पक्षधरता के प्रश्न को अन्तरात्मा के प्रश्न से जोड़कर देखते हैं। ''यदि पक्षधरता है, तो अन्तरात्मा का पक्ष होना चाहिए अर्थात मानव-मूल्यों की चरम उत्कर्ष स्थिति के रसात्मक बोध का पक्ष होना चाहिए।'' जबकि कलावादी चिंतक, कवि अशोक वाजपेयी 'जनसत्ता' समाचारपत्र में प्रकाशित अपने एक काॅलम में 'साहित्य में पक्षधरता' के सवाल को अलग ढंग से देखते हैं। वह लिखते हैं- ''साहित्य एक अनश्वर और समयातीत गणतंत्र में हमें अपने अलग-अलग इतिहासों से मुक्त कर, उसका नागरिक बनाता है: हम साहित्य में दूसरे हो जाते हैं, दूसरों से तदाकार। मनुष्य की प्रगति में साहित्य का असली योगदान यह है कि वह हमें बार-बार याद दिलाता रहता है कि यह दुनिया खराब ढंग से बनायी गयी है, जो इस खराबी के विरुद्ध तर्क करते हैं, मसलन सत्ताएं वे झूठ बोल रहे हैं और कि दुनिया बेहतर हो सकती है...'' साहित्य मनुष्य समाज की बेहतरी के स्वप्न से इस कदर जुड़ा होता है कि उसके बिना साहित्य का कोई मायने नहीं है। साहित्य मनुष्य को 'स्व' की भावना से मुक्त कर समाज के साथ जोड़ता है और सम्पूर्ण मानवता की मुक्ति की सीख देता है। इस तथ्य को किसी भी दौर के साहित्य पर लागू किया जा सकता है। भक्तकालीन कवि 'कुंभनदास ' ने तो यहां तक कहा था-'संतन को कहां सीकरी सो काम?/आवत जात पनहियां टूटी, बिसरि गयो हरिनाम/जिनको मुख देखत उपजत, तिनको करिबे परी सलाम/कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम।' कुंभनदास के माध्यम से भी सत्ता और साहित्य के बीच के रिश्ते को समझ सकते हैं। कुंभनदास बात भले ही संतो के सन्दर्भ में कह रहे हैं परंतु उस समय संत का अर्थ ही था कवि, रचनाकार, जिसका सत्ता के साथ किसी भी तरह जुड़ाव नहीं हो सकता। साहित्य आत्मा की अभिव्यक्ति है जबकि सत्ता आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं राजनीति की अभिव्यक्ति है।

प्रगतिवादी धारा के कवि नागार्जुन ने प्रतिबद्धता की बात को 'प्रतिबद्ध हूं' कविता में दोहराया है। 'बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त/संकुचित स्व की आपाधापी के निषेधार्थ.../अविवेकी भीड़ की भेड़िया धसान के खिलाफ.../प्रतिबद्ध हूं जी हां प्रतिबद्ध हूं।' वहीं मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो वह सभी मनुष्यों की जिंदगी को शोषण से मुक्त कर एक बेहतर जिंदगी की बात करते हैं। 'समस्या! एक/मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में/सभी मानव,

सुखी सुन्दर व शोषणमुक्त कब होंगे।' यह एक रचनाकार का स्वप्न है जिसे वह पूरा होते देखना चाहता है। वह जानता है कि यह सपना पूरा होना बहुत कठिन है फिर भी वह अपनी आत्मा की बेचैनी को साहित्य के माध्यम से व्यक्त करता रहता है। यह बेचैनी ही रचनाकार को उसको सही पक्ष में खड़े होने का सहारा देती है और जीवन मूल्यों के हिसाब से जीवन जीने की प्रेरणा भी। ऐसे में जिन रचनाकारों ने सत्ता के साथ अपने को जोड़ रखा और सत्ता की कारगुजारियों का समर्थन किया उन रचनाकारों को साहित्य की दुनिया में स्वीकार नहीं किया गया। वह चाहे 'श्रीकांत वर्मा' हों या कोई और। यहां तक कि भारतेंदु हरिश्चन्द्र की उन राजभक्तिपूर्ण कविताओं का साहित्य में वह महत्व नहीं है जो महत्व उनके नाटकों और निबंधों को प्राप्त है। साहित्य में भारतेंदु हरिश्चन्द्र के योगदान को न तो खारिज किया गया और न ही उनको कमतर माना गया परंतु यह जरूर कहा गया कि यह भारतेंदु हरिश्चंद्र की सीमा है। इस सीमा के बावजूद उन्हांेने अपने नाटकों में व्यंग्य के माध्यम से अंग्रेजी शासन की खूब खबर ली है। 'भारत दुर्दशा' नाटक के एक गीत में इस तथ्य को देख सकते हैं-'रोअहु सब मिलिकै भारत भाई/ हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जायी/सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो/सबके पहले जेहि सभ्य विधाता कीनो/ सबके पहिले जो रूप-रंग रस भीनो/सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो/अब सबके पीछे सोई परत लखाई/हा! हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।' वहीं अपने निबंधों में भी अंग्रेजी शासन तथा भारतीय जनता की अकर्मण्यता दोनों को लेकर खूब व्यंग्य किया है। इस संदर्भ में उनके बलिया वाले भाषण (1884) जो बाद में 'भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' से प्रकाशित हुआ था, को देखा जा सकता है। उन्होंने कहा था-''इस महामंत्र का जप करो, जो हिंदुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यो न हो, वह हिंदू है। हिंदू सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।'' इस भाषण में भारतेंदु ने आम जनता में बैठे जातीय पूर्वाग्रहों की खूब निंदा की और उन्हें इन सब बुराइयों से मुक्त होकर एक साथ एक उद्देश्य के लिए आने को प्रेरित किया।

वहीं आज के परिदृश्य में जब सत्ता और साहित्य के बीच के रिश्ते की पड़ताल साहित्य में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में करते हैं तो पता चलता है कि आज साहित्य का रुख सत्ता को लेकर अब और ज्यादा मुखर, स्पष्ट हो गया है, जिसे हाल में घटी घटनाओं में देखा जा सकता है। सत्ता का चरित्र पहले जैसा ही दिखाई पड़ रहा है, अंतर बस उसकी कार्यविधि में आया है। अब साहित्य, साहित्यकार को स्वतंत्र रूप से अपनी बात कहने की गुंजाइश कम है। लोगों की भावनाएं इतनी जल्दी आहत हो रही हैं कि किसी भी आस्था पर यदि कोई पूरे प्रमाणों के साथ कोई नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है तो उसे धर्मद्रोही, नास्तिक आदि कहकर अपमानित किया जाता है, धमकाया जाता है और न मानने पर उसकी हत्या तक सुनियोजित ढंग से करवा दी जाती है। इनके सबके पीछे साहित्य की वह बेचैन आत्मा होती है जो हर उस बात की सच्चाई बयान करना चाहती है जिसको लेकर झूठी धारणाएं प्रचलित है जिनको सत्ता पोषित कर रही है। वह चाहे सामाजिक समस्या को लेकर हो या राजनीतिक। साहित्य में इन सभी झूठों की सच्चाई बयान की जाती है। मुक्तिबोध ने आत्म वक्तव्य 1 में रचनाकार की पीड़ा को लेकर लिखा है-''...मेरी हर विकास स्थिति में मुझे घोर असन्तोष रहा है, और है। मानसिक द्वंद्व मेरे व्यक्तित्व मे बद्धमूल है। यह मैं निकटता से अनुभव करता आ रहा हूं कि जिस भी क्षेत्र में मैं हूं वह स्वयं अपूर्ण हैं और उसका ठीक-ठीक प्रकटीकरण नहीं हो पा रहा है। फलतः, गुप्त

अशांति मन के अन्दर घर किये रहती है।'' साहित्य का यही काम है कि वह अपनी आत्मा को साहित्य में अभिव्यक्त करें तभी वह साहित्य के मूल्यों का निर्वाह कर पायेगा और समाज को कुछ सार्थक दिशा दे सकेगा।